

संध्या का समय था। आकाश में सूर्यास्त केरंग फैल रहे थे। शहर के कोलाहल से दूर, एक छोटे से आश्रम में अर्जुन बैठा था। नहीं, वह महाभारत वाला अर्जुन नहीं, बल्किन इक्कीसवीं सदी का एक युवा था जो अपने जीवन की उलझनों में फँसा हुआ था। उम्र सत्ताईस वर्ष की। पढ़ाई पूरी हो चुकी थी, नौकरी मिली हुई थी, परंतु मन में शांति नहीं थी। कुछ ऐसा खो गया था जिसका उसे एहसास भी नहीं था।

उसके सामने एक वृद्ध बैठे थे। उनके माथे पर तिलक, हाथ में तुलसी की माला। उनका नाम था गुरुदेव। नहीं, वह कोई ऋषि-मुनी नहीं थे, बल्कि एक साधारण गृहस्थ थे जिन्होंने जीवन के अनुभवों से जो समझ प्राप्त की थी, उसे बाँटने की कला सीख ली थी।

"बेटा," गुरुदेव ने मधुर स्वर में कहा, "तुमने जीवन में बहुत कुछ पा लिया है। धन है, यश है, परंतु फिर भी तुम्हारी आँखों में छाया नहीं है। तुम छाया खोज रहे हो।"

अर्जुन ने उदास मुस्कान दी। "गुरुदेव, मुझे नहीं समझ आता। मैंने सब कुछ किया जो इस युग में करना चाहिए। महान विश्वविद्यालय से शिक्षा ली, बड़ी संस्था में कार्य किया, विदेश यात्राएँ कीं, परंतु फिर भी... फिर भी रात्रि को जब शयन करने जाता हूँ तो लगता है कि मैं किसी रेगिस्तान में हूँ जहाँ कोई छाया नहीं। कोई वृक्ष नहीं जहाँ मैं अपना शिर टिका सकूँ।"

गुरुदेव मुस्कुराए। "छाया... हाँ, छाया बहुत महत्वपूर्ण है। विशेषकर उस छाया की जो कभी हटती नहीं, कभी धुंधलाती नहीं, कभी सूर्यास्त के साथ लुप्त नहीं होती।"

"कौन सी छाया, गुरुदेव?" अर्जुन ने पूछा। "मैंने तो धूप-छाँह की हर जगह तलाश की। नगरों में, पर्वतों पर, समुद्र के तट पर... हर जगह वही अस्थायी छायाएँ हैं जो कुछ देर को मिलती हैं और फिर सूर्य की गति बदलते ही खिसक जाती हैं।"

तभी गुरुदेव ने अपनी माला रोकी और उनकी आँखें कुछ दूर चली गईं। "बेटा, मैं तुम्हें एक घटना सुनाता हूँ। बहुत पुरानी घटना है। द्वापर युग की..."

"द्वापर युग?" अर्जुन ने आश्चर्य से पूछा। "वह तो बहुत पहले की बात है।"

"हाँ, बहुत पहले।" गुरुदेव ने कहा। "उस समय महाभारत युद्ध समाप्त हो चुका था। धृतराष्ट्र ने राज्य त्याग दिया था और धर्मराज युधिष्ठिर सिंहासन पर विराजमान थे। एक दिन भीष्म पितामह, जो शरशय्या पर पड़े थे, ने युधिष्ठिर से कहा—'हे राजन्, मैं तुम्हें जीवन की वह शिक्षा देना चाहता हूँ जो सबसे पहली और सबसे महत्वपूर्ण है।'

और तब भीष्म पितामह ने श्लोक कहा जो महाभारत के शांतिपर्व के अध्याय दो सौ अठावन, श्लोक उनतीस में लिखा है:

**नास्ति मातृसमा छाया,
नास्ति मातृसमा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं,
नास्ति मातृसमा प्रपा॥**

अर्जुन चौंक पड़ा। "गुरुदेव, इसका अर्थ क्या है?"

"इसका अर्थ है," गुरुदेव ने धीरे-धीरे समझाना आरंभ किया, "इस संसार में माता के समान कोई छाया नहीं, कोई गति नहीं, कोई त्राण नहीं, और कोई प्रपा—अर्थात् जीवनदायिनी—नहीं। यह श्लोक स्कन्द पुराण के मोक्षखण्ड में भी आया है, इसलिए यह केवल एक ग्रंथ की बात नहीं, अपितु सनातन सत्य है।"

अर्जुन सोच में पड़ गया। "माता... मेरी माता तो ग्राम में है। मैंने उसे मासों नहीं देखा। मुझे लगता था कि मैं जब सफल हो जाऊँगा, बड़ा मनुष्य बन जाऊँगा, तब उसे बुलाऊँगा। परंतु अब तो मैं भूल ही गया कि मातृत्व का अर्थ क्या है।"

गुरुदेव ने हाथ उठाया। "नहीं, बेटा। यहाँ माता का अर्थ केवल तुम्हारी जननी ही नहीं है। यहाँ माता का अर्थ है—मातृत्व। वह शक्ति, वह तत्त्व जो तुम्हें जीवन देता है, तुम्हारा पोषण करता है, तुम्हें संरक्षण देता है।"

"समझा नहीं, गुरुदेव।"

"सुनो। जब बालक जन्म लेता है, तो उसकी प्रथम छाया क्या होती है? वृक्ष की छाया? नहीं। छत की छाया? नहीं। उसकी प्रथम छाया होती है माता की गोद। वहाँ वह सुरक्षित महसूस करता है। वह छाया ऐसी है जो कभी धूप में नहीं खिसकती, कभी सूर्य की किरणों से नहीं घबराती। माता की छाया तो हृदय की छाया है। यही कारण है कि पितामह ने कहा—नास्ति मातृसमा छाया।"

अर्जुन की आँखें नम हो गईं। उसे स्मरण हुआ कि कैसे बाल्यावस्था में जब भी ग्रीष्म ऋतु में तीव्र गर्मी पड़ती थी, माता उसे अपनी साड़ी के पल्ले में लेकर बैठ जाती थीं और कहती थीं—'भयभीत मा हो, वत्स। माता है ना।'

"और गति?" अर्जुन ने पूछा।

"गति का अर्थ है—आश्रय, गंतव्य, वह स्थान जहाँ हम जाना चाहते हैं। बेटा, जीवन में हम कितने ही विशाल हो जाएँ, कितने ही ऊँचे पदों पर पहुँच जाएँ, परंतु हमारी गति, हमारा अंतिम आश्रय माता ही होती है। जब कोई मार्ग नहीं दिखता, कोई दिशा नहीं मिलती, तब माता का ही हृदय हमें मार्ग दिखाता है। वह हमारी गति है—धार्मिक गति, आध्यात्मिक गति, और भावनात्मक गति। इसलिए कहा गया—नास्ति मातृसमा गतिः।"

"और त्राण?"

"त्राण का अर्थ है रक्षा, बचाव, संरक्षण। बेटा, जब तुम छोटे थे और रात्रि में भयभीत हो जाते थे, तो किसे पुकारते थे? जब तुम व्याधिग्रस्त होते थे, तो कौन जाग-जागकर तुम्हारी सेवा करता था? माता। यह त्राण केवल शारीरिक नहीं होता। यह मानसिक भी होता है, आत्मिक भी। आज भी, जब तुम्हें जीवन में कोई कठिनाई आती होगी, तो अनजाने ही तुम्हारा मन माता को ही स्मरण करता होगा।"

अर्जुन ने सिर हिलाया। "सत्य कहूँ गुरुदेव, जब भी कार्यालय में कोई बड़ी समस्या आती है, मुझे अचानक माता के हस्त-निर्मित खीर का स्मरण हो आता है। और मन शांत हो जाता है।"

"वही तो।" गुरुदेव मुस्कुराए। "और अंतिम पद—प्रपा। यह बहुत गहन शब्द है। कुछ ग्रंथों में यह 'प्रिया' भी मिलता है, परंतु 'प्रपा' का अर्थ है जल-पान कराने वाली, जीवनदायिनी। माता केवल दुग्ध ही नहीं पिलाती, वह प्राण पिलाती है। वह तुम्हें जीवन जीने की कला सिखाती है। वह तुम्हारे व्यक्तित्व का निर्माण करती है। इसलिए कहा गया है कि माता के समान कोई जीवनदायिनी नहीं—नास्ति मातृसमा प्रपा।"

संध्या गहराती जा रही थी। आश्रम में दीपक जलने लगे थे। अर्जुन उठा और गुरुदेव के चरणों में बैठकर प्रणाम किया। "गुरुदेव, आज मुझे वह छाया मिल गई जिसकी मैं तलाश में था। मुझे लगा था कि मुझे बाहर कहीं जाना है, परंतु अब समझ आया कि मुझे तो अपने भीतर लौटना था—माता की छाया में।"

गुरुदेव ने उसके शिर पर हाथ फेरा। "जाओ, बेटा। और स्मरण रहे—जीवन में जितनी ऊँचाइयाँ भी छू लो, परंतु जब श्रांत हो जाओ, तो माता की गोद में शिर रखकर शयन करना। वहाँ तुम्हें वह शांति मिलेगी जो इस संसार की किसी अन्य जगह नहीं मिल सकती। क्योंकि... नास्ति मातृसमा छाया।"

बाहर चन्द्रमा निकल आया था। अर्जुन ने अपने दूरवाणी-यंत्र पर एक संख्या घुमाई। गंटी बजी और दूसरी ओर से एक स्वर आया—"हाँ, वत्स..."

अर्जुन की आँखों में आँसू थे, परंतु मुस्कान थी। "माता... मैं कल ग्राम आ रहा हूँ।"

धरती पर फिर से एक पुत्र अपनी मातृ-छाया में लौट आया। और इसी क्षण से उसका वास्तविक जीवन आरंभ हुआ।

|| ॐ तत्सत् ||